bdkbl 17 'जूठन' : आत्मानुभूति की मर्मांतक अभिव्यक्ति

bdkbl dh : ijs[kk

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 आत्मकथन का परिचय

17.3 हिंदी दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि

17.4 दलित आत्मकथन का विकास

17.5 ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व एवं रचनात्मक योगदान

17.6 'जूठन' की कथावस्तु

17.7 जूठन की कथावस्तु का विश्लेषण

17.8 जूठन आत्मकथन के पात्र और चरित्र चित्रण

17.9 सारांश

17-0 mís';

आधुनिक हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में उभरी आत्मकथन विधा का परिचय तथा उसमें दलित आत्मकथन का स्थान निर्धारण करना इस इकाई का उद्देश्य है। आप इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आत्मचरित्र तथा दलित आत्मकथन के अंतर से अवगत होंगे। हिंदी दलित आत्मकथनों के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त करेंगे। दलित आत्मकथन 'जूठन' पढ़ने के बाद आप को दलित आत्मकथन का संपूर्ण परिचय प्राप्त होगा। इस इकाई के अध्ययन के बादः

साहित्यक विधा के रूप में आत्मकथन विधा को समझ सकेंगे;

भारतीय समाज के संदर्भ में दलित आत्मकथन की अवधारणा को समझ सकेंगे; और

हिंदी के प्रमुख दलित आत्मकथनों से परिचित होंगे।

17-1 प्रस्तावना

युग परिवर्तन के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती हैं। हिंदी साहित्य के आदि काल में राजा-महाराजाओं की वीरता का गुणगान किया गया है। सामंतवादी परिवेश में आम आदमी के सुख-दुख की चिंता से अधिक भक्तिकाल में आत्मा-परमात्मा के विचारों में रमकर समकालीन समस्याओं से आँख मूंदकर भगवान के गुणगान में ही अपने कृतित्व को सार्थक समझा। सामाजिक समस्याओं का चित्रण, निम्न एवं मध्यवर्गीय लोगों के सुख-दुख का परिचय इन रचनाकारों की रचनाओं में बिलकुल नहीं है लेकिन कुछ दलित संतों की रचनाओं में भगवान के गुणगान के साथ-साथ ऊँच-नीच भावनाओं का चित्रण जरूर मिलता है। हाँ इन दलित संतों को क्रांतिकारी तो नहीं कह सकते लेकिन

यह सुधारवादी जरूर है। संत रैदास और कबीर ने तो सामाजिक बुराइयों का खुले आम खंडन भी किया है।

आधुनिक काल में भी सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों की ओर ध्यान देने वाले बहुत कम साहित्यकार मिलते हैं। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद का आगमन एक परिवर्तनशील सूचना है। पहली बार साहित्य में सत्य का बोध होने लगा। दलितों के जीवन पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाल कर उनके जीवन के नग्न सत्य को उजागर किया। कर्मभूमि, रंगभूमि, गोदान जैसे उपन्यासों में, ठाकुर का कुआँ जैसी कहानी में प्रेमचंद ने दलितों के प्रति हमदर्दी जतायी। उनकी दलित संवदेनाओं की रचनाओं से हिंदी साहित्य के परंपरागत रचनाकार चौंक पड़े। उन लोगों ने कल्पना तक नहीं की थी कि दलितों का अनुभव विश्व अवमानना, वंचना, उत्पीड़न का गुलामसदृश्य जीवन है। उनकी अपनी सांस्कृतिक विरासत है, उनके जीवन में भूख, वेदना और पीड़ा से अंतहीन संर्घा है। प्रेमचंद ने दलित जीवन के यथार्थ को समाज के सामने खोलकर रखा। प्रेमचंद की इन रचनाओं को हिंदी साहित्य में नकारा गया, कहा गया कि यह अश्लीलता का चित्रण है, सदियों से हाशिये पर पड़े लोगों का चित्रण करके प्रेमचंद तहलका मचाना चाहते हैं, इसलिए प्रेमचंद के साहित्य को साहित्य दर्जा देने के लिए तथाकथित साहित्यकार राजी नहीं थे। दलित साहित्य को लेकर भी यह लिखा गया कि दलित साहित्य में पीड़ा और वेदना अधिक है और साहित्य कम, आक्रोश का कारण साहित्य नहीं होता, साहित्य का अपना सौंदर्य शास्त्र होता है, अपने साहित्यिक मानदंड होते हैं। 'खुद मरने तक खुदा नहीं मिलता' कहावत के अनुसार स्वयं बाबासाहेब आंबेडकर ने अपने अनुभवों को आत्मकथनात्मक रूप से अभिव्यक्त किया है जो भारतीय दलित आत्मकथनों की प्रेरणा बनी। मराठी की दलित रचनाएं रचनाकार के जीवन संदर्भों की सच्ची प्रस्तुतियाँ है। दलितों की सदियों की यातनाओं को, उनके ऊपर अनवरत होते आने वाले अन्याय, अत्याचारों का अत्यंत घृणात्मक प्रसंगों से खुलकर चित्रण करते हुए यह दलित साहित्यकार बल्कि एक प्रकार की आजादी अनुभव करते हैं, यह आजादी उन्हें इस जटिल समाज व्यवस्था को समझने परखने की मिली दृष्टि में है। आत्मानुभूति की रचनात्मक अभिव्यक्तियाँ दलित आत्मकथाएं हैं। ये सभी आत्मकथाएं 'मैं' शैली में ही लिखी जाती हैं। प्रामाणिक तौर पर आत्मकथनकार अपने जीवन की त्रासद प्रसंगों की सच्चाई को ही लिखते हैं, जिनमें वर्णित घटनाओं का वह स्वयं साक्षी होता है। मोहनदास नैमिशराय के आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' की भूमिका में डॉ. महीप सिंह करते हैं कि - 'यह विधा कई बार ऐसी नंगी सच्चाई को प्रकट करने का साहस माँगती है, जो भारतीय (संभ्रांत) चरित्र में बहुत कम संभव है बल्कि होता भी यही, रहा है। इस तथ्य को अन्य आत्मकथनों जैसे हरिवंशराय बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करू 'गाँधी जी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' में देखा जा सकता है। 'मि कसा झालो' (मैं कैसे बना) से मराठी दलित आत्मकथनों की शुरुआत मानी जाती है। उसके बाद दया पवार की 'बलूत' प्र.ई. सोनकांबले की 'यादों के पंछी' शरणकुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' लक्ष्मण गायकवाड की 'उठाईगीर' प्रमुख रूप से चर्चा के केंद्रबिंदु है। बेबी कांबले की 'जीवन हमारा' , शांताबाई कांबले की 'मेरे जीवन की चित्रकथा' मुक्ता सर्वगौड़ की 'बंद दरवाजे' और कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथाएँ पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ चुके हैं। नवें दशक में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथन 'जूठन' के छप जाने से हिंदी साहित्य जगत एक बार चौंक पड़ा था।

17-2 आत्मकथन का परिचय

आत्मकथन की सहज एवं सरल परिभाषा है 'आत्मा की सत्यकथा' अर्थात् मनुष्य अपने जीवन की यथार्थ तथा सत्य घटना पर आधारित कथा जो स्वयं अपने अनुभवों को ईमानदारी से रेखांकित करता है। इसमें चित्रित ज्यादातर घटनाएँ निजी होती हैं। आत्मकथन में कल्पना का कोई अस्तित्व नहीं होता।

डॉ. वीरभारत तलवार के अनुसार पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' कृति को ही आत्मकथा माना जाता है जो बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि इससे पहले 15वीं शताब्दी में बनारसीदास जैन ने 'अर्ध कथानक' नामक आत्मकथा लिखी थी। इसके अलावा आधुनिक हिंदी साहित्य में डॉ. श्यामसुंदरदास ने सबसे पहले अपनी आत्मकथा लिखी। हिंदी साहित्य के अनेक विद्वानों का मानना है कि 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' आत्मकथा न होकर एक ऐतिहासिक दस्तावेज है ।

मनुष्य के अनुभवों को अभिव्यक्त करने का यह एक मात्र साहित्यिक माध्यम है जिसे आत्मकथन कहते हैं। इसलिए आत्मकथनकारों ने अपने अनुभवों तथा जीवन के सुख-दुख से भरी घटनाओं का निरूपण करने के लिए इस विधा को ही अपनाया। इसीलिए आत्मकथन वास्तविकता पर आधारित गद्य-विधा है। काव्य और कथा-साहित्य में कल्पना का बड़ा महत्व है। लेकिन आत्मकथा में कल्पना नहीं भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति का गुणात्मक महत्व है। अपने जीवन की कथा को निर्वैयक्तिक होकर ज्यों का त्यों कह देना आत्मकथा की अनिवार्य शर्त होती है। आत्मकथन का 'आत्म' संकीर्ण आत्मभर नहीं है। उसका विस्तार पूरे समाज में होता है। व्यक्ति के गठन का, उसे संस्कारित करने का काम समाज ही करता है। इसलिए कोई 'आत्मकथन' लेखक की केवल निजीकथा नहीं होती, वह 'आपबीती' के साथ जगबीती भी होती है बल्कि लेखक की सर्जनात्मकता का निखरा हुआ साक्ष्य बनी रहती है।

आत्मकथन दलित जीवन के उस सत्य को भावी पीढ़ी के समक्ष रखना चाहता है, जिसे अन्यायपूर्ण जाति विषमता ने उसके पूर्वजों पर थोपा था। इस इतिहासबोध से जगी मुक्ति चेतना द्वारा मनुष्य में भावबोध जगाने का ही यह प्रयास है।

17-3 हिंदी दलित आत्मकथन की पृ"ठभूमि

मराठी दलित साहित्यकार शंकरराव खरात अपने आत्मकथन 'तराल अंतराल' में कहते हैं कि 'वास्तव में यही मेरे जीवन की कहानी है। उनके साथ-साथ यह एक 'स्टोरी ऑफ दी अनटचेबल' है। मेरे साथ मेरे समाज की भी कहानी उतर आती है। एक व्यक्ति, एक समाज, एक गाँव के मानसिक, वैचारिक और सामाजिक जीवन में घटी हुई जीवन की कहानी है। इसके अतिरिक्त अपना समाज, अपनों को कैसे छलता है, इसका यथार्थ वर्णन मराठी दलित आत्मकथन 'मुकाम पोस्ट देवाचे गोठने' में माधव कोंडविलकर ने किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथन 'जूठन' में जीवन के सारे त्रासद प्रसंगों का बेझिझक चित्रण किया गया है।

समग्र रूप से भारत के धार्मिक संकीर्णता का अध्ययन करने के लिए दलित आत्मकथन बहुआयामी स्रोत के रूप में उपक्रम सिद्ध हुए हैं। इसलिए इन आत्मकथनों का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। इन आत्मकथनों का मुख्य उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यता तथा गैर-बराबरी को मिटाने के लिए सदियों से चलाये जा रहे संघर्ष को जारी रखना है। तमाम आत्मकथनों में अभिव्यक्त दलितों का जीवन अत्यंत त्रासदी भरा है।

भारतीय भाषाओं में लिखे लगभग सभी दलित आत्मकथनों में सामाजिक अपमान को सहने के प्रसंग दर्शाते हैं कि यहाँ की व्यवस्था में जैसे यह एक सामान्य बात है। दिन-रात काम करने वाला यह श्रमिक वर्ग चोरी करके नहीं काम करके पेट भरना चाहते हैं, धर्मग्रंथों ने श्रम से जुड़े सभी कार्य तथा उसमें संलग्न श्रमिक वर्ग को शूद्र की श्रेणी में रखा है। इसी कारण यह श्रमिक वर्ग जो अछूत की श्रेणी में भी आता है को आर्थिक उत्पादन क्षेत्र से बहिष्कृत रखा गया है तथा मात्र श्रम पर आजीविका के लिए सवर्णों पर निर्भर भी।

किसी ब्याह में बिन-बुलाये मेहमान की तरह हाजिर होकर भोजन के लिए तरसते, भीख माँगने या चोरी करने जैसे प्रसंग और किसी विवाह में भोजन मिलने की आशा लगाए इंतजार करना और अंत में भोजन न मिलने पर स्त्रियों ,बच्चे समेत भूखे पेट सो जाना- ये इन आत्मकथनों में आने वाले सहज एवं सामान्य दृश्य हैं। प्रतिभा के कारण प्राप्त चाँदी के मेडलों-इनामों को बेचकर पेट की भूख मिटायी जाने के त्रासद अनुभव हैं।

मनुष्य अपने जीवन में, समाज में मुक्त एवं स्वतंत्र है तो वह उतना ही अधिक सृजनशील होता है गुलामी मनुष्य को निर्बल बनाती है। शोषित हमेशा अपनी मेहनत द्वारा समाज के वास्तविक शिल्पी होने पर भी उनके जीवन में सुख, शांति, संतृप्ति और तसल्ली का प्रवेश कभी नहीं होता। ऐसी अमानवीय, असंघटित व्यवस्था ने भारत में परदेशियों के प्रवेश के लिए आसान रास्ता बनाया। दलित आत्मकथनों में अपमानित जीवन, दरिद्रता, क्षोभ तथा विद्रोह के चित्र इन्हीं कारणों से दृष्टिगत होते हैं।

17-4 दलित आत्मकथन का विकास

हिंदी साहित्य में बनारसीदास जैन की 'अर्ध कथानक' रामविलास शर्मा की 'अपनी धरती अपने लोग' 1985 में प्रकाशित शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' पांडेय बैचन शर्मा की 'अपनी खबर' नंददुलारे वाजपेयी की 'स्टैंड' आदि आत्मकथन हिंदी साहित्य में उल्लेखनीय हैं। इन आत्मकथनों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मकथाकारों ने अपने आप का वैभवीकरण किया है। आत्मकथन में 'मैं' का प्रयोग तो होता है लेकिन पूरी रचना 'मैं' के केंद्र में ही घूमती है, लेकिन दलित आत्मकथन व्यक्तिकेंद्रित होने पर भी-मैं प्रमुख न होकर-समाज, परिवेश, संस्कृति, इतिहास, समाज के लोग, उनका बड़प्पन, उनकी कमजोरी, उनकी भाषा प्रमुख होने के कारण समाज का एक अभिन्न अंग बनकर 'मैं' उभरकर आता है। इसलिए अन्य आत्मकथाकारों की तरह सत्य छुपाकर असत्य को अभिव्यक्ति देने की जरूरत ही दलित आत्मकथनाकार को महसूस नहीं होती क्योंकि अपने समय की यथार्थ अभिव्यक्ति के कारण से ही दलित आत्मकथनों का अपना सामाजिक महत्व है। इसलिए जिन सामाजिक मूल्यों को छुपाकर झूठे मूल्यों को बखानने में जो आत्मकथाकार संतुष्टि का एहसास करते हैं वह स्वान्त–सुखाय रचनात्मक–प्रयास दलित आत्मकथनकारों से कोसों दूर खड़ा है। 1995 में मोहनदास नैमिशराय का आत्मकथन 'अपने-अपने पिंजरे' पुस्तकाकार में छपकर आई। 1997 में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' का प्रकाशन हुआ। इन जोखिमपूर्ण कार्य को यह लोग कर क्यों रहे हैं? जब शरणकुमार लिंबाले की पत्नी यह प्रश्न करती है कि यह सब लिखने से क्या फायदा? 'तुम क्यों लिखते हो? कौन अपनायेगा हमारे बच्चों को'? अथवा ओमप्रकाश वाल्मीकी की पत्नी उनके सरनेम को लेकर कहती हैं कि 'हमारे कोई बच्चा होता तो मैं इनका सरनेम जरूर बदलवा देती'! तब यह समस्या कितनी गंभीर है? यह सोचने की जरूरत है। लिंबाले जी कहते हैं 'फिर भी मैं लिखता हूँ। यह सोचकर कि जो जीवन मैंने जिया यह सिर्फ मेरा नहीं है। मेरे जैसे हजारों, लाखों का जीवन है।

दलित आत्मकथनों से मुख्य प्रेरणा यहाँ मिलती है कि जिस अमानवीय जीवन को जिया और उन लाखों यंत्रणाओं को सहना पड़ा, फिर भी वह यहाँ तक पहुँचा। आत्मकथन दलित

लेखकों को अदम्य जीवन संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती हैं क्योंकि वे बताना चाहते हैं कि जो नारकीय और दासतापूर्ण जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति विशेष का अपराध नहीं है। दलित आत्मकथाएँ व्यवस्था परिवर्तन की माँग भी करती हैं। कुछ संकटमय प्रसंग यह भी है कि इनके प्रकाशन से कुछ दलितों को लगा कि दलितों का अपमान करने के लिए यह रचना की है क्योंकि इन आत्मकथनों में अपनी जाति के खोखलेपन को समाज के सामने खोलकर, हमारी इज्जत का हवन किया गया, इसे अपने कौम से बहिष्कृत किये जाने की धमकी भी दी गई। यह वेदना सामाजिक अभिव्यक्ति न बनती तो 'पुनर्रचना' कैसे हो सकती थी? अपने जनसमुदाय की सामाजिक स्थितियों में अपने स्वयं के दोषों को ढूढँना एवं उन दोषों से कैसे विमुक्त हो सकते हैं। इसकी गवेषणा है। अपने-अपने सांप्रदायिक विश्वासों तथा दूसरे समुदायों के बारे में अपनाये गये अनुमान, निकम्मेपन का रचनाओं में खुले आम चित्रण किया गया है। परस्पर भेद-भाव और अछूतपन इन लोगों में आपस में आज भी है, इस आपसी छुआछूत को दलित लेखकों ने अस्वीकार करते हुए कहा है कि यह तो जाति प्रथा की विशेषता ही है कि वह सबसे निचले तबके पर भी अपना प्रभाव डालती है। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन तक', कौशल्या बैसंत्री के 'दोहरा अभिशाप', 'डी.आर.जाटव का 'मेरा सफर मेरी मंजिल, सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत शौराज सिंह बेचैन का 'कंधों पर बचपन', भगवानदास का 'मैं भंगी हूँ', एन.आर.सागर का 'जब मुझे चोर कहा, जयप्रकाश कर्दम का 'मेरी जात' महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त आत्मकथनों में लेखक तमाम विरोधी परिस्थितियों में अदम्य जिजीविषा और जीवन संघर्ष की झलक दिखाते हैं।

'जूठन' आत्मकथन

वरिष्ठ दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने आत्मकथन का आरंभ प्राथमिक विद्यालय में पढ़ते समय उनके साथ उसके सवर्ण शिक्षक द्वारा मिली प्रताड़ना, अपमान और तिरस्कार पूर्ण व्यवहार के प्रसंग से किया है। शिक्षित होकर भी व्यक्ति जातिभेद की भावना से मुक्त नहीं होता। द्रोणाचार्य की परंपरा में विश्वास करने वाले सवर्ण शिक्षक आज एकलव्यों को सरकारी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा ग्रहण करना दुर्लभ कर देते हैं। यह आत्मकथन संकेत करती है कि वाल्मीकि समुदाय के बहुत से बच्चे शिक्षक के रौद्र रूप से भयभीत होकर पाठशाला ही छोड़ देते हैं।

छात्रों को पढ़ाने से अधिक उन्हें मारने, पीटने में लगे शिक्षकों की संख्या आज भी कम नहीं है। ओमप्रकाश जैसे बच्चे माता-पिता की जागरूकता व स्वयं की पात्रता के कारण ही इतने दमन के बावजूद पढ़ जाते हैं। छात्र ओमप्रकाश से तो हेड मास्टर ने पहले दिन से ही स्कूल के लंबे चौड़े प्रांगण में दो दिन तक झाड़ू लगवाई थी। तीसरे दिन वह बालक चुपके से कक्षा में कुछ सीखने के लिए बैठ जाता है। यहाँ शिक्षक का कुटिल रूप उन्हीं के द्वारा कहे गए शब्दों में देखें तो बेहतर होगा, 'अबे चूहडे के मादरचोद कहाँ घुस गया... अपनी माँ का। उनकी दहाड़ सुन कर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, 'मास्साब वो बेट्ठा है कोणे में।' हैडमास्टर ने मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीख कर बोला, 'लगा पूरे मैदान में झाड़ू ...नहीं लगाई तो गाँड में मिर्चा डाल के बाहर काढ (निकल) दूँगा।' (पृ.15)

तथाकथित सवर्ण व स्पृश्य शिक्षक दलितों पर हाथ उठाते समय अस्पृश्यों के प्रति घृणा को ही व्यक्त करते है। सभी छात्रों से स्कूल की सफाई करायी जाए तो स्वीकार्य है किन्तु

यहाँ तो बेगारी ही थी। यह अछूत होने की सजा थी। अधिकांश गाँव में यह स्थिति अभी भी बदली नहीं है। जाति भावना से ग्रसित अध्यापक ही अछूत बच्चों को स्कूलों में दाखिला देने में आनाकानी करते हैं। छात्र ओमप्रकाश द्रोणाचार्य नामक पाठ पढ़ाये जाने के दौरान अपने मन में उठे प्रश्न को अध्यापक से पूछ बैठता है। जो विद्यार्थी का एक अधिकार है। 'अश्वत्थामा को दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और उस पर महाकाव्य रचा गया। हमें चावल का मांड पिलाया जाता रहा है फिर किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक शब्द भी क्यों नहीं लिखा' यही प्रखर तर्क ज्ञान जो उस शिक्षा के स्तर से आगे का प्रश्न करते बालक ओमप्रकाश को आगे चलकर दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि बना देता है। मास्टर साहब चीख उठते हैं, क्योंकि दलितों को प्रश्न करने का अधिकार भी इस वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों के चलते छीन लिया था। 'द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी कर रहा है। ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा।' मास्टर सटाक-सटाक छड़ी से बालक ओमप्रकाश की पीठ पर महाकाव्य रच देता है। पत्रकार कंवल भारती कहते हैं कि 'यह आत्मकथन वास्तव में पीठ पर अंकित महाकाव्य ही है, जो मास्टर ने नई व्यवस्था को अंकित किया है। यह व्यवस्था सवर्ण दलितों के लिए स्वर्ग और के लिए नरक का निर्माण करती है।'

शिक्षकों द्वारा दलित छात्रों के साथ उत्पीड़न के कठोर यातना क्रम प्राथमिक स्कूलों से ही शुरू हो जाते हैं। बड़ी कक्षा में पहुँचने पर उत्पीड़न व भेदभाव के रूप बदल जाते हैं। अस्पृश्यता शारीरिक रूप से हटकर बौद्धिक व मानसिक रूप ग्रहण कर लेती है। बृजपाल सिंह जैसे अध्यापक दलित छात्रों को प्रैक्टिकल में कम अंक देकर फेल करते रहे हैं भविष्य को अधर में लटकाते हैं। क्या इसका कारण शिक्षक का अविकसित मस्तिष्क है या अपनी यथा-स्थितिवादी व्यवस्था के समाप्त होने और कथित उच्चवर्णों के वर्चस्व के कम हाने से भयभीत होना है? कारण अनेक हो सकते हैं एक तो यह कि जब वह अपने अधीन वर्ग की स्थिति बदलते देखते हैं, तो स्वार्थ व ईर्ष्या वश हर स्तर पर अनुदार व्यवहार करने लगते हैं। यह ऐसी समाज व्यवस्था है जिसमें ज्ञान की दिशा में बढ़ते कदमों को रोककर जाति अंतर्गत भेदभाव को कायम रखकर उससे मिलते रहने वाले लाभ न छोड़ने का मोह है। क्रूर व्यवहार में परिवर्तन नहीं आने से शिक्षकों के भेदभावपूर्ण रवैये के कारण दलित छात्रों का पाठशाला से बाहर होने का प्रमाण बहुत अधिक है। कायदे कानून सब कमजोर पड़ जाते हैं और जातिगत संस्कारों की पकड़ बढ़ती जाती है। जिससे उच्च शिक्षा संस्थानों में दलितों की भागीदारी पर निश्चित तौर पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा में राष्ट्रीय आरक्षण नीति लागू नहीं होती है, वहाँ दलित शिक्षकों की संख्या शोचनीय हद तक नगण्य हो जाती है। वहाँ भागीदारी का लोकतांत्रिक तत्व व्यवहारतया समाप्त है, बल्कि योग्यता शर्तों को पूरा न करने के बावजूद अनारक्षित उम्मीदवार को ही वरीयता है। स्वतंत्रता के 63 वर्षों के बाद भी यह स्थिति शोचनीय बनी हुई है, क्योंकि वाल्मीकि के बचपन के प्राइमरी पाठशाला के अध्यापकों के दलित छात्रों के साथ किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार में परिवर्तन नहीं के बराबर आया है। जिससे समतामूलक समाज निर्माण के हक में परिवर्तन की प्रक्रिया थम गई है।

वाल्मीकि के पिता की भाँति जो लोग बच्चों की शिक्षा के प्रति सजग नहीं है, उनके बच्चों का भविष्य अंधेरे में ही खो जाने की संभावनाएँ होती हैं। गाँव के अन्य समुदाय दलित बच्चों के भविष्य के प्रति अनुदार रवैया रखते हैं तथा उनकी किसी भी तरह से सहायता नहीं करते। उत्तर प्रदेश के गांव में हुई घटना का जिक्र यहाँ करना जरूरी लगता है। हाल ही में सर्व शिक्षा अभियान को मध्यान्ह भोजन योजना के अंतर्गत दलित महिला द्वारा तैयार किए गए भोजन अपने बच्चों को खिलाए जाने का तथाकथित सवर्ण अभिवावकों ने विरोध किया। मुख्याध्यापक पर दलित महिला कर्मचारी को हटाने का दबाव बनाया। इतना ही नहीं

बच्चों का धर्मभ्रष्ट किए जाने का आरोप लगाकर उन्हें स्कूल से हटाने की धमकी तक दे डाली। आधुनिक समय में धर्मभ्रष्ट होने अथवा किए जाने जैसे जातिगत भेदभाव को बढ़ावा देने तथा नन्हें बालकों के मन में जाति के जहर को उतारने का यह प्रयास है। प्रसंग ध्यातव्य है कि जब छात्र ओमप्रकाश के पिता उस समय अचानक रास्ते से गुजर रहे थे। तब उन्होंने स्कूल के प्रांगण में अपने प्रिय बच्चे को शिक्षा ग्रहण करने के बजाय झाड़ू लगाते देखा, जो उनकी आशा के विपरीत था उनके क्रोधित होने का यह एक उचित कारण था। अतः उनका गुस्से में भर कर भभक उठना स्वभाविक घटना थी। इस आवेश में शत्रु का सामना किया। आत्म कथाकार ने उनके शब्दों को स्मरण करते हुए लिखा है 'देखें कौण सा द्रोणाचार्य की औलाद जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है .... ' (पृ. 16)

एक प्रसंग में अपने बच्चे की शिक्षा की खातिर स्वाभिमानी पिता ने प्रधान के सामने गिड़गिड़ा कर विनती करना भी बुरा नहीं माना। जबकि उन्होंने बड़े बेटे की शादी में सलाम प्रथा का विरोध किया था। इस प्रथा में वर वधू को ससुराल में अपनी अपनी सास के साथ सलाम करने वहाँ-वहाँ जाना पड़ता। जहाँ-जहाँ उनकी सास सफाई का काम करती है। वास्तव में यह परंपरा के नाम पर नव विवाहिताओं के मनोबल को तोड़ने के लिए सोच समझ कर रची गई साजिश थी, जिससे इन लोगों में भीख माँगने की प्रवृत्ति बनी रहे और स्वयं को दूसरों से हीन समझते रहें।

कथाकार सूरजपाल चौहान का आत्मकथन 2002 में प्रकाशित हुई है। यह आत्मकथन जूठन के समान लेखक के जीवन संघर्ष से परिचय कराती है। जातीय उत्पीड़न की मार्मिक घटनाएँ व्यथित करती हैं। जूठन में आया प्रसंग बालक ओमप्रकाश के साथ अध्यापक द्वारा जाति के ओछापन दिखाने की घटनाएँ। यहाँ भी अध्यापक उसी रूप में दलित छात्र का रास्ता रोके खड़े हैं। तिरस्कृत का सबसे संवेदनशील पहला अध्याय है। जो आत्म कथाकार की माँ से संबद्ध है। इस अध्याय में प्रमुख बात यह है कि लेखक के बचपन का यह पहला पन्ना है जिसको पढ़कर उनके बचपन को समझ सकते हैं। जिसमें अशिक्षा, अंधविश्वासों, रूढ़ियों और ओझा, में विश्वास के कारण लेखक अपनी माँ से असमय बिछुड़ जाता है। उसके बाद कष्टों का पहाड़ मानों उस पर टूटता है। यही से शुरू होती है उनके नए जीवन की शुरुआत जब पिता उनको अपने साथ दिल्ली ले आते हैं।

अरूणाचल प्रदेश के राज्यपाल रह चुके श्री माता प्रसाद जी का आत्मकथन 'झोंपड़ी से राजभवन तक' शीर्षक के अनुसार 'झोंपड़ी से राजभवन तक' से सहज ही ध्वनित होता है कि लेखक को विरासत में राजभवन नहीं मिला, उनका स्वयं का यह संघर्ष है। पुस्तक में अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय 'दलित जीवन के दर्द हैं' जिससे महत्वाकांक्षी साधनहीन, अभावग्रस्त युवक-युवतियाँ को संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है। मेहनत, संघर्ष से जीवन को सुन्दर बनाया जा सकता है।

हालाँकि 'झोपड़ी से राजभवन तक' साहित्यिक रचना कम राजनैतिक ज्यादा हो गई है। यदि राजनीति हावी न रहती और वोटों की चिंता प्रमुख नहीं होती तो आत्मकथन अधिक सफल होता। डी.आर.जाटव का आत्मकथन मेरा सफर मेरी मंजिल एक सतत् अध्येता और शोधार्थी के नोट्स हैं। जिसमें जीवन विवरण भी कम महत्व का नहीं है।

17-5 ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व एवं jpukRed ;kxnku

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून 1950 में उतर प्रदेश के मुजफ्फ़नगर जनपद के बरला गाँव में हुआ है। एक निर्धन, भूमिहीन दलित परिवार का यह पहला शिक्षित व्यक्ति हैं। इनकी कालजयी रचना 'जूठन' में लेखक के जीवन का पूरा ब्यौरा दिया गया है। जिसे पढ़ने के बाद हमें लगता है कि देश के बहुसंख्यक दलितों की तरह वाल्मीकि को भी 'जनम

से भूख ने हैरान किया है। सामाजिक श्रेणी विभाजन के चलते और स्वार्थनिहित यथास्थितियों की कुटिलता ने भूख को दलित जीवन के साथ शाश्वत रूप में जोड़ दिया। जिन समस्याओं ने इस वर्ग को मुख्य रूप से परेशान किया था, वे अन्य वर्ग की समस्याएँ नहीं थी। अन्यवर्ग के लोगों के लिए अनावश्यक तर्क, वैभव, व्यवहार ही मुख्य थे, न कि निम्नवर्ग की ये समस्याएँ। उच्च वर्ग की दृष्टि में आदर्श के रूप में सतानेवाला, जीवन का नग्न सत्य है और नग्न सत्य यह है कि रोटी के टुकड़े को पाने के लिए दलित वर्ग को किस प्रकार अपमानित होना पड़ता है को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने उनके अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा एक विराट सत्य को उजागर किया है। 'सलाम', 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ', 'बिरमू की बहू' और 'अम्मा' जैसी सशक्त कहानियों में नग्न सत्य के दर्शाया गया है। उनके आत्मकथन 'जूठन' का केंद्रबिंदु एक ओर भूख है, तो दूसरी ओर 'आत्मसम्मान' है। दलितों को हमेशा से सतानेवाली भूख के कारण अन्न के अभाव की पूर्ति के लिए बिल्ली, चूहे जैसे प्राणियों को मारकर खाते हैं यह उनके जीवन की विडंबना है कि अभक्ष भक्षण द्वारा जिंदा रहने का प्रयास करना पड़े। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दलित आत्मकथनों का विश्लेषण, विशेष रूप से 'जूठन' का विश्लेषण एक दृष्टि से 'भूख की मीमांसा है।' भूख से छुटकारा पाना ही उन लोगों के लिए मानों 'स्वर्ग सुख' था। अपनी भूख के शमन के लिए ये चोरी की ट्रेनिंग लेने लगते हैं, चूहों को पालकर उनके द्वारा गेहूँ इकट्ठा करके, अपनी संतान की शादी करते हैं यह सब उनके लिए असहज, अस्वाभाविक, कार्य नहीं है।

समकालीन हिदीं साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की सलाम कहानी स्रोतगत-विशेषता के लिए चर्चित है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने दलितों में जिस आत्मगौरव, आत्मसम्मान को जगाया था उस चेतना से प्रेरित शिक्षित दलित युवक अपनी शादी के बाद, पत्नी को साथ लेकर गाँव के त्यागी साहूकारों के दरवाजे पर जाकर बक्शीस माँगने से इनकार कर देता है। उनको लगता है कि है 'बक्शीस' नहीं 'भीख' मांग रहे हैं और मुझे भीख नहीं चाहिए। आत्मसम्मान की यह छोटी सी चिनगारी 'जूठन' में आग बन गयी है। इस तरह वाल्मीकी के पूरे रचना संसार में भूख का चित्रण दलित जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्ति देता है। लेकिन भूख का शमन करने के लिए 'जूठन' के सहारे आत्मगौरव को कभी गिरवी नहीं रखते चाहे वह भूखे मरें। अपने रचनागत संकट को लेकर स्वयं लेखक लिखते हैं कि ''इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लंबी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कटों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़ना को एक बार फिर जीना पड़ा, उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा कितना दुःखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है'' ...

(लेखक की ओर से - जूठन)

17-6 'जूठन' की कथावस्तु

'दलित - जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और यातनाओं से भरी हैं। ऐसे अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की 'आत्मकथन' विधा ही सर्वथा उपयुक्त है। एक दलित लेखक ऐसी समाज-व्यवस्था में सांसे लेता है जो 'बेहद क्रूर और अमानवीय है, दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।' इसलिए दलित लेखक उपन्यास-लेखन के बजाय आत्मकथन लिखने के लिए उन्मुख होते हैं। ओमप्रकाश की 'जूठन' आत्मकथन इन्हीं सब कारणों से प्रेरित होकर लिखी गयी है। हालांकि किसी भी लेखक के लिए अपने जीवनानुभाव लिखना कम नहीं है। क्योंकि उसे दोहरी मानसिक यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा की रचना-प्रक्रिया के बारे में स्पष्ट लिखा है कि 'अपनी

व्यथा-कथा के शब्दबद्ध करने का विचार काफी समय से मन में था। लेकिन प्रयास करने के बाद भी सफलता नहीं मिली थी। कितनी ही बार लिखना शुरू किया और हर बार लिखे गए पन्ने फाड़ दिये। कहाँ से शुरू कँरू और कैसे? यही दुविधा थी। कुछ मित्रों की राय थी, आत्मकथन की बजाय उपन्यास लिखो। (लेखक की ओर से ...) इस प्रकार वे अपने दलित जीवन की पीड़ाओं, यन्त्रणाओं, उपेक्षाओं और दुःखों को 'आत्मकथन' में अभिव्यक्त कर सकते थे। 'जूठन' उनके इन्हीं जीवनानुभवों की सृजनात्मक उपलब्धि है। दलित आत्मकथनों की सबसे बड़ी विशेषता और उपलब्धि यही है कि उसमें उनके लेखकीय जीवनानुभव सच्चे और प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्ति पाते हैं।

आत्मकथन की शुरुआत मुजफ्फ़रनगर जिले के बरला गाँव की जोहड़ी के किनारे बने उस ने एक चूहड़े परिवार के मकान से होती है जिससें ओमप्रकाश वाल्मीकी का जन्म हुआ था। एक ओर सवर्ण तगाओं के मकान हैं तो दूसरे किनारे दलितों के मकान और मकानों के पीछे गाँव भर की जवान-बूढ़ी औरतों का खुला शौचालय है जहाँ वे गोलमेज कान्फ्रेंस की शक्ल में बैठकर गाँव-गली के लड़ाई-झगड़ों की चर्चा करती हैं। इस तरह चारों तरफ गंदगी भरी हेती है। ऐसी दुर्गन्ध उठती है कि मिनट भर में साँस घुट जाय। उनकी तंग गलियों में सुअर और कुत्तों के साथ नंग-धड़ंग बच्चे घूमते हैं। वर्णव्यवस्था को आदर्श कहने वाले सवर्णों को यदि 'दो-चार दिन रहना पड़ जाय तो उनकी राय बदल जाए।' ऐसे माहौल में ओमप्रकाश वाल्मीकि का बचपन बीता था जिसकी याद में भरी कड़वी सच्चाइयाँ उनके जेहन में अब तक मौजूद हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी परिवारों को छोड़कर बाकी हिन्दू तगा ही रहते थे। मुसलमान और हिंदू तगाओं का दलितों के प्रति एक जैसा व्यवहार था। क्योंकि उन्हें दो जून रोटी के लिए तगाओं के घरों में साफ-सफाई से लेकर खेती-बाड़ी और मेहनत-मजदूरी के सभी काम करने पड़ते। ऊपर से रात बेरात बेगार करनी पड़ती थी जिसके बदले में 'कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। अगर बेगार करने से इन्कार किया तो फिर गाली-गलौच के साथ-साथ प्रताड़ना भी झेलनी पड़ती। सवर्ण दलितों को यदि वह उम्र में बड़ा होता तो 'ओ चूहडे' बराबर या उम्र में छोटा हो तो 'अबे चूहड़े के' यही तरीका था संबोधन का।' (जूठन - 22) यह जाति व्यवस्था के कारण उत्पन्न 'अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय, भैंस को छूना मना नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था' वे सिर्फ उपभोग की वस्तु थे कि काम लिया और फेंक दिया। पूरे भारत में दलितों की ऐसी ही सामाजिक-आर्थिक स्थिति थी।

आजादी से पहले ईसाई मिशनरियों ने पहले-पहल दलितों के लिए शिक्षा के द्वार खोले जिसकी वजह से दलितों में शिक्षा के प्रति जागरूकता आई थी। शहरों के अलावा गाँव-कस्बों में भी ईसाई मिशनरियों ने स्कूल खोले भले ही उनमें अक्षर ज्ञान ही कराया जाता था। बालक ओमप्रकाश को मोहल्ले के एक ईसाई सेवकराम मसीहि के बिना कमरों ओर बिना टाटपट्टी वाले खुले स्कूल में दलितों के अन्य बच्चों के साथ प्रारम्भिक शिक्षा के रूप में पहले-पहल अक्षरज्ञान हुआ। फिर पिताजी से खटपट होने पर गाँव के ही बेसिक प्राइमरी स्कूल में भर्ती कराया गया उसके पिताजी शिक्षा का महत्व समझते थे, इसलिए मास्टर हरफूलसिंह के सामने गिड़गिड़ाकर कहा था, ''मास्टर जी, थारी मेहरबानी हो जागी जो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।''

यह उस समय की बात थी जब देश को आजाद हुए आठ साल हो गए थे और सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने शुरू तो हो गए थे, लेकिन जन सामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था। दलितों को स्कूल में दूसरे सवर्ण बच्चों से दूर और अलग जमीन पर बैठना पड़ता था और कभी-कभी एक दम पीछे दरवाजे के

पास जहाँ से बोर्ड पर लिखे अक्षर धुँधले दिखते थे और उस पर त्यागियों के बच्चों के द्वारा 'चूहड़े' कहकर चिढ़ाना और बिना कारण पिटाई कर देना आम बात थी। अगर कभी वे नये साफ-सुथरे कपड़े पहन कर स्कूल आते तो सवर्ण लड़के उन पर फब्तियाँ कसते, 'अबे चूहड़े का, नये कपड़े पहनकर आया है।' और अगर मैंने-पुराने कपड़े पहनकर स्कूल आते तो कहते, 'अबे चूहड़े के' दूर हट बदबू आ रही है।' उन्हें इन दोनों ही स्थितियों में अपमानित होना पड़ता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि बचपन की उन यातनाओं और अपमान से भरे दिनों के बारे लिखते हैं कि यह अजीब-सी यातनापूर्ण जिंदगी थी जिसने मुझे अंतर्मुखी और अपमान से चिड़चिड़ा, तुनकमिजाजी बना दिया था। (पृ. 23) दलित समुदाय के लोगों का जीवन ऐसी ही सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में बीतता है। ये परिस्थतियाँ उस ग्रामीण समाज की जातिवादी-संरचना पर अवस्थित होती हैं जिन्हें आजादी के इन पचास सालों में भी हम नहीं बदल पाए हैं।

आज भी किसी-न-किसी रूप में शिक्षा का ढाँचा ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी सामन्ती जड़े जमाए हुए हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का यह आत्मकथन शिक्षा के सामन्ती चरित्र को बखूबी उद्घाटित करता है। अध्यापकों का आदर्श रूप अभी भी उनके स्मृतिपटल पर अंकित है कि जब कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो उन्हें वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे, सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे। जब ओमप्रकाश चौथी कक्षा में था तो हेडमास्टर बिशम्बर सिंह की जगह कालीराम आ गए तो ओमप्रकाश को खानदानी पेशे की याद दिलाई, ..वह जो सामने शीशम का पेड खड़ा है, उसे पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा..फटाफट लग जा काम पे।' दो दिन तक इसलिए झाड़ू लगाता रहा कि 'मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा।' पर जब तीसरे दिन वह कक्षा में चुपचाप जाकर बैठ गया तो हैडमास्टर कालीराम की दहाड़ सुनाई पड़ी, 'अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया..अपनी माँ.., तभी एक त्यागी के लड़के ने चिल्लाकर बताया 'मास्साब, वो बैट्ठा है कोणे में तो उन्होंने भेड़िये की तरह उसकी गर्दन दबोच कर बरामदे में लाकर पटक दिया और चिल्लाकर कहा, जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूंगा।' यह कौन से उच्च संस्कार हैं जो एक शिक्षक को ऐसा आचरण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे? क्या यह सवर्ण मानसिकता नहीं थी जो जातिवाद के घेरे में बंद थी। भयभीत ओमप्रकाश ने पूरे स्कूल में रोते-रोते झाड़ू लगायी। स्कूल के पास से गुजरते हुए पिताजी ने देखा तो उनकी आँखों में नमी उतर आई और लम्बी-लम्बी घनी मूछें गुस्से में फड़फड़ाने लगीं - 'कौण-सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे है..।' यह एक दलित का साहस और हौसला था कि हेडमास्टर की धमकी का कोई असर नहीं पड़ा, 'ले जा इसे यहाँ से चूहड़ा हो के पढ़ाने चला है.. जा चला जा ..नहीं तो हाड-गोड तुड़वा दूंगा तो अध्यापक के पेशे की कदर करते हुए चुनौती भरे स्वर में कहा मास्टर हो,इसलिए जा रहा हूँ..पर इतना याद रखिए, मास्टर ..यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा...इसी मदरसे में और यो ही नहीं इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू। (पृ. 16) यह एक दलित का पूरी समाज-व्यवस्था के प्रति खुला विद्रोह था जो सदियों से अंतर्मन में खदबदाते लावे की तरह जमा हो रहा था और अवसर पाते ही फट पड़ा।

आत्मकथन में ऐसी अनेक घटनाएँ और प्रसंग हैं जो ब्राह्मणवादी पोषकों के जातिवादी चरित्र और उनकी परंपराओं और प्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह का संकेत देती हैं। सुखदेव सिंह त्यागी की बेटी की बारात आई थी। हालांकि ऐसे मौकों पर मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते चूहड़े दरवाजे के बाहर बड़े-बड़े टोकर लेकर बैठे रहते थे। टोकरों में डाली गई

जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी। बालक ओमप्रकाश अपनी माँ-बहन के साथ सुखदेव सिंह के दरवाजे पर बैठे थे। जब बारात खाना खाकर चली गयी तो माँ ने सुखदेव सिंह को बाहर आता देखकर कहा, ''चौधरी जी, ईब तो सब खा-खाकर चले गए ...म्हारे जाकतों (बच्चें) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इन्तजार कर रे ते।'' सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, 'टोकरा भरा तो जूठन ले जा री है.. ऊप्पर से जातकों के लिए खाणा मांग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।' त्यागी के वे शब्द ओमप्रकाश के सीने में चाकू की तरह उतर गए जिसकी जलन में आज तक झुलस रहे हैं। उस रोज माँ का स्वाभिमान जाग गया था और उसकी आँखों में दुर्गा उतर आई थी और टोकरा वहीं बिखेर का सुखदेव सिंह से कहा, ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।'' त्यागी उस पर झपटा तो बिन डरे माँ ने शेरनी की तरह सामना किया और फिर ''उसके बाद माँ कभी उसके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बन्द हो गया था।''

निश्चय ही इन घटनाओं से बालक ओमप्रकाश की चेतना में बदलाव आया होगा। कुशाग्र बुद्धि का वह अपने सेक्शन में प्रथम आया तो क्लास का मॉनीटर बना दिया गया, **लेकिन कुछ अध्यापकों का व्यवहार अभी तक ठीन नहीं था, उनके रवैये में प्रताड़ना और उपेक्षा का भाव निरंतर बना रहा।** इसलिए उसे स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से दूर रखा जाता था। इसके बावजूद उसमें आत्मविश्वास की कमी नहीं थी। पहली बार किसी दलित बालक ने साहस करके जिसे सवर्णों की दृष्टि में धृष्टता कहा जाएगा, **मास्टर जी के सामने द्रोणाचार्य के संबंध में एक सवाल किया था** कि अगर द्रोणाचार्य ने भूख से तड़पते अश्वत्थामा को दूध की जगह आटे का घोल पिलाया था तो 'हमें चावल का मांड।' फिर भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा? मास्टर ने उसकी इस धृष्टता का जवाब उसे मुर्गा बनाकर चीखते हुए दिया, ''चूहड़े के, द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे ले..तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूंगा।'' और फिर मास्टर जी ने उसकी पीठ पर सटाक-सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था जो आज भी ''भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामन्ती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर नहीं पर, मेरे मस्तिक के रेशे-रेशे पर अंकित है।'' (पृ. 38)

दलितों ने इसे साक्षात् रूप में जीते-जी भोगा है। ग्रामीण जीवन की यह दारूण-व्यथा हिन्दी के महाकाव्यों में कभी अभिव्यक्त ही नहीं हुई। आभिजात्य साहित्कार दलित जीवन के इस अकल्पनीय नरक तुल्य जीवन से रूबरू नहीं हुए। इसलिए सवर्ण साहित्य में नरक की सिर्फ कल्पना है जबकि दलितों ने इस नरक को जीवन में भोगा है। सवर्ण साहित्य और दलितों के साहित्य में यही मूलभूत अन्तर है। जहाँ उन्हें मरे हुए जानवर उठाने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके बावजूद श्रम-साध्य काम के बदले मात्र गालियाँ मिलती हैं इस क्रूर समाज में श्रम का कोई मोल नहीं है बल्कि निर्धनता को बरकरार रखने का ही षडयंत्र किया जाता है और जातिवादी उपेक्षा, उत्पीड़न से बनाए रखने का सबसे बड़ा साधन है। इसलिए आजादी के साठ बाद भी जाति-व्यवस्था को किसी न किसी रूप में बनाए रखा गया है। ग्रामीण समाज व्यवस्था इसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पोषण करती है। मास्टर बृजपाल त्यागी के घर घटी घटना सवर्णों के तथाकथित रूप से माने गए उच्च संस्कारों की मानसिकता का वास्तिवकता को सामने ला देती है। ओमप्रकाश अपने सहपाठी भिक्खूराम के साथ मास्टर बृजपाल त्यागी के गाँव से गेहूँ का कट्टा लेने जाता है जहाँ बुजुर्ग ने उनकी मेहमान की तरह खूब खातिर की, परन्तु जैसे ही उन्हें मालूम हुआ कि वे वाल्मीकि जाति के हैं तो उन दोनों को अश्लील गालियाँ देते हुए लाठी से मारने दौड़े कि उन्होंने उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने और चारपाई पर बैठने

का दुःसाहस कैसे किया? **इस तरह सवर्णों के ''अतिथि - सत्कार का खोखलापन खुल गया था। अतिथि की जाति ही उसे आदर दिलाती है। वैसे भी आदर पाने का हमें अधिकार ही कहाँ था। सच बोल कर लाठी खाई, बेइज्जती हुई और जाति के नाम पर जो खरोंच मिली उन्हें भरने के लिए युग भी कम पड़ेगे।''**

इन सामाजिक घटनाओं से उनके मन में गहरी वितृष्णा भर गयी थी। यह सन्धि की उस किशोरवस्था में मन पर एक खरोंच पड़ गयी जो काँच पर खींची लकीर की तरह आज भी यथावत् है। एक दलित लेखक की पीड़ा का अहसास उन्हें कैसे हो सकता था। जिन्होंने घृणा द्वेष की बारीक सुइयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? जिन्हें अपमान नहीं भोगना पड़ा, वे अपमान-बोध को कैसे जान पाएँगे? और जिस्म पर अपमान की सर्द लकीरे पाने वाले ओमप्रकाश को **''कभी-कभी लगता है जैसे और आदिम सभ्यता में सांस लेकर पले-बढ़े हैं।''** इस स्थितियों ने विरोध को जन्म दिया था। परीक्षा के समय में फौजा त्यागी के खेत में बेगार करते वक्त भी जातिगत अपमान का दंश झेलना पड़ा था, **''अबे चूहड़े के .. आ.. दो अच्छर पढ़ लिए, सोहरे का दिमाग चढ़ा दिया है.. अबे औकात मत भूल जबकि उसके पिता यही समझते थे कि पढ़ लिखकर, अपनी जाति सुधारा लेकिन क्या पता कि पढ़-लिखकर जातियों नहीं सुधरती। वे सुधरती हैं जन्म से।''**

इन्टर कॉलिज में आने के बाद ओमप्रकाश ने डॉ. आंबेडकर की पुस्तकें पढ़ीं। इससे पहले वह गांधी, नेहरू, पटेल, विवेकानन्द, शरत और टैगोर से ही परिचित थे। डॉ. आंबेडकर की पुस्तकों के अध्ययन से उनके भीतर एक प्रवाहमयी चेतना जागृत हुई और उनके गूंगेपन को शब्द मिल गए। व्यवस्था के प्रति विरोध की भावना उसके मन में इन्हीं दिनों पुख्ता हुई थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने आत्मकथन में स्पष्ट लिखा है कि **''आंबेडकर को पढ़ लेने के बाद यह बात समझ में नहीं आ गयी थी कि गांधी ने 'हरिजन' नाम देकर अछूतों को रा"ट्रीय धारा में नहीं जोड़ा बल्कि हिन्दुओं को अल्पसंख्यक होने से बचाया था। उनके हितों की रक्षा की थी।' लेकिन साथ-साथ 'एक नया शब्द 'दलित' भी मेरे शब्द कोश में जुड़ गया, जो 'हरिजन' का स्थापन्न नहीं बल्कि करोड़ों अछूतों के आक्रोश की अभिव्यक्ति थी।''** इस एक 'दलित' शब्द से उन्हें नयी दिशा मिल गयी और यह धारणा मजबूत होती गयी कि 'स्कूल कालिजों में दी जाने वाली शिक्षा किसी भी रूप में राष्ट्रीय नहीं बनाती, बल्कि कट्टर संकीर्ण हिन्दू बनाती है।'

इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि के मन में बार-बार एक ही सवाल उठता था कि **'मैं हिन्दू भी तो नहीं हूँ। यदि हिन्दू होता तो मुझसे इतनी घृणा, इतना भेदभाव क्यों करते हैं?' बात-बात पर जातीय बोध की हीनता से मुझ क्यों भरते हैं? एक अच्छा इंसान होने के लिए 'हिन्दू' होना क्यों जरूरी है। जबकि ''हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, जातीय श्रे"ठताभाव अभिमान बनकर कमज़ोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिन्दू इतना निर्दयी और क्रूर है?''**

अपनी पढ़ाई के दौरान ही ओमप्रकाश को एप्रेंटिस के रूप में आर्डिनेंस फैक्ट्री, देहरादून में प्रवेश मिल गया तो पिताजी की खुशी का ठिकाना न रहा। वे बार-बार एक ही बात दोहराते थे कि 'जात' से तो पीछा छूटा, पर वे अन्त तक इस तथ्य से अपरिचित ही रहे कि 'जाति' से मृत्युपर्यन्त पीछा नहीं छूटता है। ट्रेनिंग के दौरान आर्डिनेंस फैक्ट्री प्रशिक्षण संस्थान, अम्बरनाथ, बम्बई, के हास्टल में रहते कुलकर्णी परिवार से संपर्क हुआ था जिन्हें 'वाल्मीकि' सरनेम में ब्राह्मण होने का भ्रम हो गया था। इसी कारण उस परिवार में आत्मीयता मिली और स्नेह भी, जो पारिवारिक संबंधों में बदलने लगा था कि एक दिन उनके घर में ही महार जाति के अध्यापक के साथ जातिगत भेदभाव देखा तो मन में उनके प्रति घृणा हो गयी। कुलकर्णी की बेटी सविता जो वाल्मीकि से प्यार करने लगी थी, को जब यह बताया कि वह भी अछूत है तो उसे यकीन नहीं हुआ। सच जानकर सविता

अपराध-बोध से पीड़ित हो गयी और हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हजारों साल की नफरत हमारे दिलों में भर गयी थी। **एक झूठ को हमने संसृति मान लिया था। ''ओमप्रकाश उस समय तनाव-मुक्त था तो सविता अपराध-बोध से पीड़ित के 'घर आओ या न आओ लेकिन यदि यह सच है तो बाबा से मत कहना .....।''** यह आधुनिक समाज के उन ब्राह्मण परिवारों का चरित्र है जो आधुनिकता, प्रगतिशीलता और जनतंत्र का ढोल पीटते हैं पर अपने अंदर ब्राह्मणवादी-संस्कारों को ही पालते रहते हैं और अपने बच्चें को भी पारिवारिक स्तर पर ब्राह्मणी-संस्कारों को जन्म से ही घुट्टी में पिलाते रहते हैं।

दूसरी तरफ उन्हें महाराष्ट्र की धरती पर ही दलित आन्दोलन की प्रेरणा मिली। मराठी के दलित साहित्य से ही नहीं बल्कि उसके लेखकों - दयापवार, नामदेव ढसाल, गंगाधर पानतावणे, बाबूराव बागूल तथा केशव मेश्राम आदि से परिचय हुआ जिनके शब्द रगों में चिंगारी भर रहे थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि को इनसे नयी उर्जा मिली। जैसे-जैसे मराठी साहित्य में से उनमें दलित चेतना की अदभुत तेजस्विता के दर्शन हुए और उन्हें आत्मसन्तुष्टि मिली। नागपुर की 'दीक्षा भूमि' में भदन्त आनन्द कौसल्यायन से प्रेरणा मिली। बुद्ध के मानवीय स्वतंत्रता के दर्शन से नयी उर्जा प्राप्त हुई और मानव को ही सर्वोपरि मानकर उसकी मुक्ति के लिए साहित्य-सजृन की ओर प्रवृत्त हुए। जैसे-जैसे उनकी दलित आंदोलन में सक्रियता बढ़ रही थी, आस-पास के लोग शक की निगाहों से देखने लगे थे, मानों वह उनके वर्चस्व को तोड़ने का काम कर रहा था। ऐसे लोगों में ज्यादातर सवर्ण ही थे।

इस आत्मकथन की सबसे बडी विशेषता यह है कि एक व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव मात्र नहीं है बल्कि समष्टिगत भी है। भारतीय समाज का लगभग पूरा चरित्र इसमें समाया हुआ है। एक तरफ सवर्ण जाति के शिक्षकों से लेकर कर्मचारी और अफसरों द्वारा जातिगत भेदभाव और उससे अपमान और यातनाओं का लम्बा सिलसिला दिखाई देता है तो दूसरी और सवर्ण जाति के छात्रों-कर्मचारी और अफसरों का स्नेह और प्यार भरा सहयोग भी मिला है। जब पहली बार इस बस्ती के ओमप्रकाश में लिखा है कि **''ऐसा पहली बार हुआ था जब कोई त्यागी मुझे अपने घर ले गए थे। बेहद आत्मीयता के साथ पास बैठकर दोपहर का खाना भी खिलाया था। वह भी अपने बर्तनों में। छुआ-छूत के माहौल मे यह विशे"ा घटना थी।''** (पृ. 94) इसी तरह महाराष्ट्र पुलिस के सब-इंस्पेक्टर कुरेशी और उसके परिवार में उन्हें बहुत स्नेह और प्यार मिला। मेघदूत नाट्य संस्था के कार्यक्रमों के दौरान अनेक सवर्णों से संपर्क हुआ और अनेक लोगों से आत्मीय संबंध बने। किशन शर्मा से बड़े भाई की तरह स्नेह ओर सहयोग मिला। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस संबंध में लिखा है, **''मुझे बनाने में किशन शर्मा जी का बहुत बड़ा योगदान है। वे जितने अच्छे कलाकार थे उतने ही संवदेनशील इंसान भी, जो मानवीय अनुभूतियों को परख लेने की क्षमता रखते थे।''** (पृ. 284)

आत्मकथन का अन्त ओमप्रकाश के 'वाल्मीकि' सरनेम को लेकर उठे विवाद के साथ उनके संघर्षों और सरोकारों का साथी बन गया था, इसलिए उन्हें आत्मीय भी लगा था। कुछ मित्रों को वाल्मीकि सरनेम आकर्षक लगता है तो कुछ को 'जाति बोध' की हीनता का। स्कूल-कॉलेज में सहपाठियों से लेकर अध्यापकों-गुरुजनों ने इस सरनेम पर बहुत बार छींटाकशी की थी और मजाक भी बनाया था तो कुछ लोगों ने इसे साहसिक कदम बताया। उनका तर्क था कि एक अछूत निम्न जाति कही जाने वाली 'जाति' का व्यक्ति अपने नाम के साथ अपनी 'जाति' को सरनेम की तरह लगाए, वह भी श्रेष्ठता भाव के साथ तो साहसिक हुआ है। एक सज्जन ने तो यहाँ तक कह दिया, **''साहस कि क्या बात है ... है तो चूहड़ा ही, अच्छा है, जाति पूछने की जहमत से बच जाए।''**

सच्चाई यही है कि भारत में 'जाति के साथ ही मान-सम्मान जुड़ा हुआ है।' क्योंकि जाति का नाम जानते ही लोगों का व्यवहार और आचरण बदल जाता है और 'ऐसा कहने वालों में ज्यादातर मेरी ही 'जाति' के पढ़े-लिखे फासला रखने का प्रयास करते हैं।' तथाकथित दलित साहित्यकार भी हैं। कई अधिकारी, विद्वान, नाते-रिश्तेदार फासला रखने का प्रयास करते हैं।' (पृ.282) बहराल, ओमप्रकाश के साथ जुड़कर 'वाल्मीकि' शब्द जातिहीनता का नहीं बल्कि उनकी अपनी जातीय अस्मिता और पहचान का प्रतीक बनकर उभरा है जो वर्ण-व्यवस्था, द्वेष और घृणा को नाकाम कर रहा है। स्पष्ट है कि यह आत्मकथन दलित जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों, जातिव्यवस्था से उत्पन्न छुआ-छूत के दंश को, यंत्रणाओं, यातनाओं और अपमान के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए ओमप्रकाश 'वाल्मीकि' सरनेम के जातीय-बोध की आत्मस्वीकृति की लंबी यात्रा तय करके दलित अस्मिता की पहचान कराने में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

17-7 जूठन की कथावस्तु का विश्ले"ाण

नोबल पुरस्कार से पुरस्कृत अमरीकी उपन्यासकार अर्नेस्ट हेमिग्वे से एक संवाददाता ने पूछा कि आपने अब तक आत्मकथन क्यों नहीं लिखी? हेमिंग्वे का उत्तर बड़ा मार्मिक तथा सार्वकालिक सत्य था। उन्होंने उस संवाददाता से पूछा कि '**अब तक मैंने जो लिखा है, वह फिर क्या है?** वाल्मीकि के साहित्य को पढ़ते वक्त हेमिंग्वे की यह बात हमें सदा याद आती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ, कहानियाँ उनके आत्मकथन 'जूठन' के विकसित साहित्य लगते हैं। कभी-कभी लगता है कि लेखक वाल्मीकि 'जूठन' की हैंगओवर से अभी बाहर नहीं आये? लेकिन वास्तविकता यह है कि चिनुवा अचेबे का रचना-संसार गोरे लोगों के अत्याचार, अन्यायों के चित्रण की गैर-हाजिरी में जिस तरह अधूरी है उसी तरह अपनी आप बीती जिंदगी के अनुभवों को छोड़कर ओमप्रकाश वाल्मीकि लिख नहीं सकते। इसलिए आत्मकथन जूठन में अपने चूहड़े जात में प्रचलित 'सलाम' करने की पद्धति पर संकेत भर लिखा था और उसी घटना के आधार पर बाद में 'सलाम' कहानी भी लिखी। इस तरह भारतीय दलित का जीवन स्वयं एक अद्‌भुत अनुभवों का 'कोलाज' है। वह कौशल्या बैशंत्री की तरह शहर की हो या वाल्मीकि की तरह गाँव का क्यों न हो उनके अनुभव की तीव्रता एक जैसी ही हैं। छुआछूत, गरीबी, अनक्षरता, अत्याचार सहते जाना और उसको अपनी नियति मान लेना जैसे अंधविश्वास, भय से जकड़े दलित वर्ग की यातना और संत्रास को अभिव्यक्त करना दलित लेखकों की रचनाओं का मूल उद्देश्य है।

'जूठन' में भारतीय गाँवों में रहने वाले अस्पृश्यों का जो हाल है वही प्रेमचंद की 'ठाकुर का कुआँ' कहानी से वाल्मीकि तक है जाति प्रथा के स्तर पर कुछ नहीं बदला। यदि कुछ बदला है तो वह बस यह है कि 'जूठन' का 'मैं' शिक्षा पाने के लिए तरसता है, और उनके माँ बाप किसी भी हालात में उसको शिक्षित बनाने के लिए कटिबद्ध हैं। वास्तव में दलित का शिक्षित होना कोई सरल एवं स्वाभाविक बात नहीं है। 'जूठन' की पाठशालाओं में ओमप्रकाश को अपने सहपाठियों के साथ पढ़ने के बदले में - हेडमास्टर के आदेश पर स्कूल तथा उसके भारी मैदान को रोज झाड़ू मारना पड़ता है। अचानक उनके पिताजी का यह सब देखना और हेडमास्टर को इसके लिए दोष देना, बाद में बालक ओमप्रकाश को स्कूल से निकाल देना, बाप को गाँव के हर तगा साहूकार के दहलीज पर जा कर गिडगिड़ाना आदि प्रसंगों के मार्मिक उद्‌घाटन से मन में पढ़ने की ललक और मजबूत हो जाती है एवं यही ललक 'बरला' गाँव के इस दलित युवक को आंबेडकर के साहित्य से परिचित कराती है। दलित युवक को अपनी स्थिति पर सोचने के लिए मजबूर किया जाना, अपने माँ बाप की स्थिति की दूसरों से तुलना करना, जैसे उनका दिमाग 'ज्वालामुखी'

सा हो जाता है, लिखने के बाद ही वह ज्वालामुखी का धधकता लावारस तत्काल के लिए शांत हो जाता है।

इस तरह 'जूठन' की कथावस्तु केवल ओमप्रकाश वाल्मीकि का दुःख दर्द न होकर पूरे देश के दीनहीन दलितों का दर्द बन जाती है जिसके कारण से यह आत्मकथन सार्वकालिक तथा सार्वजनीन बन जाती है जो इस कथावस्तु की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

17-8 जूठन आत्मकथन के पात्र और चरित्र चित्रण

जूठन में तीन पात्र प्रमुख हैं - एक स्वयं लेखक, उनकी माँ तथा बाप। माँ बाप दोनों अनपढ़ हैं, लेकिन त्यागी साहूकार उसे बेगार करेन को तैयार नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि इस तरह काम करने के लिए ही इन चूहड़े मेहतरों का जनम हुआ है और घर में बच्चा खुचा जूठन तो ऊपर इनको दिया जाता है। आत्मकथन के तीनों पात्रों की विशेषता यह है कि गरीब और लाचार होने के बावजूद वे तीनों आत्मविश्वासी तथा आत्मसम्मान रखने वाले हैं- अपनी दयनीय स्थिति के बारे में ओमप्रकाश लिखते हैं - ''त्यागी लड़कों के कलफ लगे, ताजा धुले कपड़ों को देखकर मैं हमेशा सोचता था कि मैं भी ऐसे ही कपड़े पहनकर स्कूल जाँऊ। कभी-कभी तो त्यागियों के घर से मिली उतरन पहननी पड़ती थी। उन कपड़ों का देखकर लडके चिढ़ाते थे। लकिन यह उतरन भी हमारी बेबसी को ढक नहीं पाती थी'' (जूठन पृ. 28) जैसी बातों में मैं के चरित्र को किस तरह बचपन से ही अपमान सहना पड़ा था, इसका चित्रण अपने आप दिखायी देता है। शिक्षा पाने के लिए, क्लासरूम में, प्रतियोगिताओं में अपनी योग्यता के आधार पर पुरस्कार पाने की सहज इच्छा ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व में शुरुआती दौर से दिखायी देती है, लेकिन सहज एवं स्वाभाविक न्याय से उसे हमेशा वंचित किया जाता है। फिर भी ओमप्रकाश कभी किसी के सामने नहीं झुकता, समझौता नहीं करता आत्मसम्मान के सीधे रास्ते में आगे बढ़ता है। अपना सरनेम 'वाल्मीकि' को लेकर आत्मकथन में एक लंबे वादविवाद का, पारिवारिक खींचातानी का चित्रण है, इस आत्मसंघर्ष का चित्रण करते हुए ओमप्रकाश जी लिखते हैं - ''इस सरनेम के कारण जो दंश मुझे मिले हैं, उनको बयान करना कठिन है। परायों की बात छोड़िए, अपनो ने जो पीड़ा दी है वह अकथनीय है। परायों से लड़ना जितना आसान है, अपनों से लड़ना उतना ही दुष्कर।''

अपने बेटे को हेडमास्टर स्कूल का ही नहीं मैदान का भी झाडू मारने लगवाता देख 'मैं' का बाप आग बबूला हो जाता है तथा हेडमास्टर को ललकारता है कि आया आज के द्रोणाचार्य निकले, मास्टर मैं को स्कूल से निकलवाने की धमकी देने पर भी बेटे को दोबारा स्कूल में दाखिल करने की हिम्मत दिखाता है। बाप के मानसिक संबल से ही बालक ओमप्रकाश हमेशा ऊँचाई की ओर देखता है। इस तरह अनपढ़ होते हुए भी बाप अपने बेटे की पढ़ाई में विशेष ध्यान देता है। जिसमें कारण से देश के अनपढ़ दलित समूह प्रतिनिधि होते हुए भी, गरीब लाचार होने पर भी ओमप्रकाश का बाप, दलितों का स्वाभाविक धैर्य, सच्चाई का रूप तथा सुंदर भविष्य की कल्पना करने वाले दृष्टा के रूप में आत्मकथन में चित्रित हैं।

तीसरा पात्र माँ पहले के दोनों चरित्र से ज्यादा धैर्यशाली लगती है। सुखदेव सिंह की बेटी की शादी के महीनों से झाडू पोंछा करने वाली माँ बरातियों के खाने तक दरवाजे के बाहर, पड़े हुए जूठन के पास इस आस लेकर खडी रहती है - आज अपने बच्चों को अभी पत्तल भर मिष्ठान मिलेगा। क्योंकि महीनों उन्होंने इसी आशा में बेगारी की थी। जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, ''चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंजजार कर रे ते।''

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, ''टोकरा भर तो जूठन ले जा री है...ऊप्पर से जाकतों के लिख खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजें से और चलती बन।'' सुखदेव सिंह त्यागी के शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझ झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी आँखों में दुर्गा उतर आयी थी। माँ को वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वही बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा...''

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे। उसके बाद माँ कभी उनके घर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी बंद हो गया था। (जूठन. पृ.22) इन बातों में माँ के विद्रोही रूप का यथावत चित्रण करके आत्मकथनकार ने एक दलित नारी की अस्मिता को दर्शाया है।

17-9 सारांश

'जूठन' आत्मकथन एक दलित युवक की जातिगत यातना ही भोगी हुई कहानी है। आत्मकथन का नायक 'मैं' ने बरला गाँव में अपने बीते दिनों को यथावत, रचना में प्रस्तुत किया है। उनकी यह प्रस्तुति साहित्यिक तो है ही साथ-साथ इसमें चूहड़ों, मेहतरों के जीवन की यशोगाथा नहीं यातनागाथा गायी गयी है। यातनागाथा इसलिए कि 'गरीब एवं धनहीन, परिवार होने के बावजूद यह 'मैं' ने अपने में आत्मसम्मान को पालकर रखा है जिसके कारण से उसे पढ़ने नहीं दे रहे हैं? क्यों मुझे झाडू मारने के लिए मजबूर कर रहे हैं? इस तरह कौतूहल एवं प्रश्न करने की क्षमता के कारण 'नायक' को जीवन के पगपग पर कष्ट उठाना पड़ता है। लेकिन इन मुसीबतों से वह कभी नहीं डरता, उसको डटकर मुकाबला करता है। मुकाबला करने की शक्ति ने ही 'मैं' को अक्षरज्ञान के नये प्रपंच को परिचय कराता है। जिससे उनको पता लगता है कि शोषण, अत्याचार, दमन के परे भी एक दुनिया है और उस शोषण रहित समाज को हासिल करना एवं उस स्वस्थ समाज को विकसित करना है 'जूठन' का पहला एवं अंतिम उद्देश्य रहा है।

आत्मकथन का परिचय दे सकते हैं।

हिंदी दलित आत्मकथन एवं सामान्य आत्मकथन के अंतर को स्पट कर सकते हैं।

दलित आत्मकथन की पृष्ठभूमि का चित्रण कर सकते हैं।

प्रमुख दलित आत्मकथन कारों का परिचय दे सकते हैं।

दलित आत्मकथनकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन तथा साहित्य का परिचय दे सकते हैं।

जूठन की कथावस्तु का विश्लेषण कर सकते हैं।

जूठन की आत्मकथन के पात्रों का परिचय दे सकते हैं।